

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन

डॉ० पूनम अग्रवाल

प्रवक्ता हिन्दी विभाग, रमा जैन कॉलेज नजीबाबाद, जिला बिजनौर उ०प्र०, भारत।

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास का मध्यकाल सं० 1375 से 1900 तक रहा। पूर्ण मध्यकाल को दो भागों में बाँटा गया। पूर्व मध्यकाल (सं० 1375 से 1700) जिसे भक्तिकाल की संज्ञा दी गयी तथा उत्तर मध्यकाल (सं० 1700 से 1900) जो रीतिकाल के नाम से जाना गया। इसमें पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल की संज्ञा दी गयी क्योंकि इस समय साहित्य का मुख्य वर्ण्य विषय ईश्वर भक्ति रहा। इस काल के अनेक काव्य रचयिताओं का मूल प्रायोजन अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करना एवं तत्सम्बन्धी अनुभूतियों को व्यक्त करना हो गया था काव्यात्मकता उनके लिए गौण थी, यह दूसरी बात है कि उनके न चाहते हुए भी रचनाओं में काव्यात्मकता सहज स्वाभाविक रूप से आ गयी है।¹

मध्यकालीन साहित्य की काव्यात्मकता इतनी सहज एवं स्वाभाविक हैं कि यह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है।

राजनीतिक दृष्टि से समस्त मध्यकाल मुस्लिम साम्राज्य के उत्थान-पतन का युग था। दास, खिलजी, तुगलक, गुलाम, सैय्यद, लोदी, मुगल आदि विभिन्न वंशों के व्यक्ति सत्तासीन हुए। प्रायः शासकों की नीति एवं व्यवहार गैर मुस्लिम जनता के प्रतिकूल था। मुस्लिम शासकों में प्रमुख तीन प्रवृत्तियाँ थीं – (1) धार्मिक दमन की प्रवृत्ति (2) राज्य विस्तार एवं युद्ध की प्रवृत्ति (3) ऐश्वर्य वृद्धि एवं विलासिता की प्रवृत्ति। इन प्रवृत्तियों ने भारतीय संस्कृति एवं साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया। मुस्लिम शासकों का उददेश्य राज्य विस्तार के साथ-साथ अपने धर्म का प्रचार भी था। अपने इस उददेश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने नैतिक अनैतिक सभी मार्गों को अपनाया। सत्ता पाने की लालसा इतनी प्रबल थी कि अपने सगे-सम्बन्धियों को ही मौत के घाट उतार देने में भी उन्हें कोई परहेज नहीं था। मुस्लिम शासकों का जीवन दर्शन नितान्त भौतिकवादी था। इनकी धार्मिक भावना आध्यात्मिकता के स्थान पर कट्टरता से अनुप्राणित थी। मुस्लिम शासकों की कट्टरता को बर्बरता में बदलते देर न लगी। मुस्लिम राज्य में गैर-मुस्लिम को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं था। इस्लाम को अपनाने के लिए उनको तरह तरह की यातनायें दी जाती थी। उनके सामने दो ही रास्ते थे – 'इस्लाम या मौत'। कुछ शासकों ने तीसरा विकल्प भी रखा जिसके अनुसार गैर मुस्लिम जाति जजिया नाम का कर देकर अपने जीवित रहने का अधिकार खरीद सकती थी। यह कर इतना भारी था साथ ही इतनी बर्बरता के साथ वसूल किया जाता था कि उससे विवश होकर लोग धर्म परिवर्तन कर लेते थे। हिन्दू प्रजा के धर्म और संस्कृति पर प्रहार हो रहे थे। मुस्लिम आंतक हिन्दू धर्म को जर्जरित कर रहा था। उनके पास न तो इतनी शक्ति व साधन थे कि मुस्लिम साम्राज्य का सामना कर सकें, न ही वे अपने धर्म की अवहेलना सहन कर सकते थे। इस असहाय अवस्था में ईश्वरीय शक्ति एवं अनुकम्पा पर विश्वास ही एकमात्र सहारा जान पड़ी। 'अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'²

मध्यकाल में भारतीय जनता भले ही राजनीतिक दृष्टि से पराधीन

हो गई परन्तु उनका धार्मिक एवं नैतिक बल क्षीण नहीं हुआ। मुस्लिम शासकों की धार्मिक दमन की नीति की प्रतिक्रिया एवं प्रतिरोध की प्रेरणा से ही उस स्वधर्म रक्षा आन्दोलन का सूत्रपात एवं प्रसार हुआ जिसे साहित्य के क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन कहा जाता है।³ यह धार्मिक आन्दोलन पूर्वकाल के सभी आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल था। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है क्योंकि इस आन्दोलन का प्रभाव आज भी वर्तमान है। डॉ० जॉर्ज ग्रियर्सन का मानना है कि यह आन्दोलन ईसाइयत की देन है 'परन्तु यह बात अत्यन्त उपहास्यापद है और यह कहना तो और भी उपहास्यापद है कि जब मुसलमान हिंदू मंदिरों को नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हिंदू लोग भजन भाव में जुट गये।'⁴

यह आन्दोलन सर्वथा नया नहीं था। शताब्दी पूर्व इसकी अनेक प्रवृत्तियों का आर्विभाव एवं विकास हो चुका था किन्तु मुस्लिम आक्रमण की प्रतिक्रिया ने इसकी शक्ति को अधिक उद्दीप्त, इसके संगठन को अधिक सुदृढ़ एवं इसकी गति को अधिक तरंगित एवं त्वरित कर दिया। इस काल की आरम्भिक अवस्था में पूर्व और पश्चिम की भिन्न स्वभाव वाली साधनाओं का सम्मिलन बड़े वेग से हो रहा था जो सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड के समान एकत्र हो रहा था और फिर एकाएक इसका प्रार्दुभाव हो गया इसका कारण था 'शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से इनका योग होना। ये शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे।'⁵

भक्ति आन्दोलन का प्रार्दुभाव दक्षिण प्रान्त के आलवार भक्तों की उपासना पद्धति से माना जाता है। दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्त आन्दोलन का मूल प्रेरक है। 'इस धार्मिक आन्दोलन को ठोस आधार सुदृढ़ संरक्षण एवं व्यापक नेतृत्व प्रदान करने का श्रेय दक्षिण भारत को है जिस समय उत्तर भारत में संस्कृति एवं धर्म की परम्परायें पतनोन्मुखी होकर विधर्मियों के आघात से क्षत विक्षत हो रही थी उस समय दक्षिण भारत में वे हिन्दू राजाओं के आश्रय में अपने चरम वैभव की ओर अग्रसर हो रही थी।'⁶

आठवीं शती से सोलहवीं शती तक भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जिन महापुरुषों ने कार्य किया उनमें अधिकांश का आविर्भाव दक्षिण में हुआ था। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्क मध्वाचार्य आदि ने धर्म और दर्शन की परम्परा से हटकर नयी-नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की। उत्तरी भारत में उठी धार्मिक आन्दोलन की इस लहर का प्रवर्तन एवं पथ प्रदर्शन दक्षिण के धर्मनेताओं द्वारा ही किया गया। दक्षिण के आलवार भक्तों की परम्परा में ही सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रार्दुभाव हुआ। दक्षिण में जाति विचार अत्यन्त जटिल अवस्था में था। रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊँचा उठाया। रामानुजाचार्य की चौथी पाँचवी परम्परा में सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द हुए जो अनुशासन सम्बन्धी विषय पर गुरु से मतभेद हो जाने के कारण मठ त्याग कर उत्तर भारत की ओर चले आये। उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तन का श्रेय रामानन्द जी को ही है। 'भक्ति द्रविड देश में उत्पन्न हुई थी उसे उत्तर भारत में रामानन्द ले आये और कबीरदास ने उसे सप्तद्वीप और नवखंड में प्रकट कर दिया।'⁷

मध्यकाल में भक्ति विभिन्न स्वरूपों में प्रकट हुई। अपनी अपनी ढपली अपना-अपना राग की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। प्रत्येक धर्माचार्य अपने मत का प्रचार कर रहा था। हर कोई अपने अपने ढंग से इस धार्मिक आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा था। सातवीं आठवीं शती में जब भारत में बौद्ध धर्म विकृत एवं क्षीण होने लगा तो नवीं शती में शंकराचार्य ने पुनः वैदिक धर्म एवं चिन्तन प्रधान धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। उन्होंने दार्शनिक मत अद्वैतवाद की स्थापना की। बारहवीं शती के आसपास इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक दार्शनिक मतों का प्रारंभ हुआ। इस परम्परा में सर्वप्रथम श्री संप्रदाय का आविर्भाव हुआ। इसके प्रथमाचार्य रघुनाथाचार्य माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य रामानुज जी उनकी पाँचवीं छठी पीढ़ी में हुए जिन्होंने श्री सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को सुस्पष्ट एवं सुसंगठित रूप में प्रस्तुत किया। इस सम्प्रदाय द्वारा विकसित सिद्धान्तों को विशिष्ट द्वैतवाद की संज्ञा दी जाती है। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा जीव और ब्रह्म मूलतः एक ही हैं परन्तु शक्ति एवं गुण की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हैं।

इस परम्परा का दूसरा सम्प्रदाय सनक सम्प्रदाय द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर चला। इस सम्प्रदाय के सबसे प्रबल आचार्य निम्बार्क (1114 – 1162 ई०) रहे। निम्बार्क के द्वैताद्वैत के अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध न तो सर्वथा अद्वैतवादी है और न ही सर्वथा द्वैतवादी। जब जीव ब्रह्म से पृथक है तो द्वैत है किन्तु जब जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है तो पुनः अद्वैत की स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

सनक सम्प्रदाय के समकालीन गुजरात के मध्वाचार्य ने ब्रह्म सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की ओर अपने निजी सिद्धान्त द्वैतवाद की स्थापना की। मध्व के अनुसार मूलतः विष्णु एक ही अविनाशी ब्रह्म है किन्तु शेष सृष्टि तथा जीव ब्रह्म से उत्पन्न है। ब्रह्म स्वतन्त्र है जीव परतन्त्र। अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा द्वैतवाद शंकराचार्य के मत के अधिक प्रतिकूल जान पड़ता है।

अद्वैत-विरोधी दार्शनिक परम्परा का सर्वोत्कृष्ट विकास बल्लभाचार्य जी द्वारा स्थापित शुद्धाद्वैतवाद में दृष्टिगोचर होता है। यह रुद्र संप्रदाय के अन्तर्गत सम्मिलित है। रुद्र सम्प्रदाय का प्रवर्तन विष्णु स्वामी ने किया था परन्तु यह बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय के रूप ही प्रतिष्ठित है। वे शंकराचार्य के अद्वैत मत को शुद्ध अद्वैत नहीं मानते हैं। शंकराचार्य मानते हैं ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है इसका तात्पर्य है कि वह संसार में दो प्रकार की सत्ता का अस्तित्व स्वीकार करते हैं जो अद्वैतवाद की अपेक्षा द्वैतवाद के अधिक अनुकूल है। बल्लभाचार्य जी मानते हैं कि ब्रह्म जीव और जगत मूलतः तीनों एक ही हैं जब ब्रह्म की लीला करने की इच्छा होती है तो वह अपने आपको ही जीव और जगत के रूप में व्यक्त करता है। दक्षिण के ये चार वैष्णव सम्प्रदाय और उनके द्वारा स्थापित चार दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद एवं शुद्धाद्वैतवाद किसी न किसी रूप में समग्र भक्ति आन्दोलन से जड़ित रहे।

कृष्ण भक्ति को लेकर अनेक सम्प्रदायों की स्थापना की गयी। स्वामी हितहरिवंश द्वारा प्रवर्तित राधावल्लभी सम्प्रदाय को सनक सम्प्रदाय की शाखा माना जाता है। इस सम्प्रदाय में भक्त राधा के माध्यम से ही अपने को भगवान के पास निवेदित करता है। इसके सिद्धान्त द्वैत या अद्वैतपरक किसी विशिष्ट दर्शन मार्ग का अनुसरण नहीं करते। इसमें प्रेम को ही भक्ति तथा सम्प्रदाय का मूलाधार माना जाता है। इसी परम्परा में स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित सखी सम्प्रदाय या हरिदासी सम्प्रदाय आता है इस सम्प्रदाय में निकुंजबिहारी कृष्ण सर्वोपरि हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय कृष्ण भक्ति से सम्बन्ध रखने वाला ब्रजमण्डल का प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय है * इस सम्प्रदाय के आदि उपदेष्टा श्री हंसभगवा है उनसे सनत-सनकादि को उपदेश मिला। नारद मुनि ने इस उपदेश को ग्रहण कर आचार्य निम्बार्क को दिया। कृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने गौड़ीय या चैतन्य मत

का प्रवर्तन किया। चैतन्य महाप्रभु का गौरांग नाम भी प्रचलित है। चैतन्य मत का दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है 'जीव गोस्वामी ने भगवत्सन्दर्भ नामक ग्रन्थ में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि भगवान में स्वरूपाः आदि शक्तियों के अभिन्न उत्पन्न होने के कारण विचार करना शक्य न होने से भेद (प्रतीत होता) है और भिन्न होने से विचार करना शक्य न होने से अभेद प्रतीत होता है इसलिए इनमें भेदाभेद स्वीकार है- वे दोनों अचिन्त्य हैं इसलिए इस को अचिन्त्य भेदाभेद नाम दिया गया है।⁹ मध्यकाल के धार्मिक आन्दोलनों को आगे बढ़ाने एवं सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान करने में इन सम्प्रदायों का बहुत कुछ योगदान रहा। इनके रूप में भारतीय चिन्तन परम्परा अपनी ह्यसोन्मुखी अवस्था में भी अपनी मौलिकता एवं उर्वरकता को बनाये रखने में सक्षम रही।

मध्यकालीन भक्ति का स्वरूप ज्ञान एवं कर्म प्रधान न होकर भावप्रधान रहा। धर्म की भावात्मक अनुभूति ही यत्रतत्र अभिव्यक्ति पा रही थी, अभिव्यक्ति के माध्यम भिन्न भिन्न थे इस काल में भक्ति भावना के विभिन्न स्वरूपों का विकास हुआ। पन्द्रहवीं शती में चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी रूप गोस्वामी ने भक्ति के पाँच भेद बताये (1) शान्ता (2) प्रीता (3) प्रेयसी (4) अनुकम्पा (5) कान्ता। इससे सम्बद्ध भावनाएँ क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य, दाम्पत्य एवं माधुर्य के रूप में स्वीकार की गयी। भक्ति के दो प्रमुख भेद किये गये रागानुगा और वैधी। विभिन्न संप्रदायों के अनुयायियों ने रागानुगा या प्रेमप्रधान भक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया। वैधी भक्ति की प्रायः उपेक्षा की गयी। वैधी भक्ति शास्त्रीय मर्यादाओं एवं विधि विधानों से निबद्ध होती है मध्यकाल के कुछ सम्प्रदायों में भक्ति के विशुद्ध एवं मर्यादित रूप का भी प्रचलन रहा। तुलसीदास की भक्ति दास्य भाव की रही। सूरदास जी की सख्यभाव युक्त भक्ति थी। विभिन्न उतार चढावों से गुजरती, भिन्न भिन्न विचारों एवं मतों की वेशभूषा धारण करती भक्ति की गंगा बहती रही। भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसने न केवल हिन्दू वरन देश में रहने वाले मुसलमानों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। इस भक्ति आन्दोलन ने एक सामान्य भक्ति मार्ग प्रशस्त किया जिस पर सभी जाति वर्ग के लोग समान रूप से आगे बढ़ सकें। भक्ति आन्दोलन की सारी विविधताओं को आत्मसात करते हुए इसे मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया निर्गुण और सगुण। उपासना पद्धति के आधार पर भक्ति के इन दोनों रूपों की भी दो दो धारायें प्रवाहित हुई निर्गुण भक्ति शाखा में ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी काव्य धारा तथा सगुण भक्ति शाखा में राममार्गी तथा कृष्णमार्गी भक्ति काव्य धारा। ज्ञानमार्गी काव्य धारा को संक्षिप्त रूप में सन्तकाव्य कहा गया। कबीरदास इसके प्रवर्तक कवि है। इनके अतिरिक्त रैदास, दादू, सुन्दरदास, धर्मदास, मलूकदास, रज्जब आदि अनेक भक्त कवि हुए। इन्होंने समाज में सारे भेदभाव को भुलाकर प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करने का प्रयास किया।

पोथी पढी पढी जग मुआ, पण्डित भया न कोए।

ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय।।

सन्तकाव्य धारा के मुख्य आधार – शंकर का अद्वैतवाद, एकेश्वरवाद नाथपन्थी साधना पद्धति रहे। आगे चलकर सभी सन्त कवियों ने अपने अपने नाम से पंथ चलाये जैसे दादू पंथ, रैदास पंथ, नानक पंथ आदि। निर्गुण पंथ की दूसरी शाखा प्रेममार्गी काव्यधारा सूफी मत या सूफी काव्य के रूप में रही। इसके प्रमुख कवि जायसी रहे। रहस्यवाद इस काव्यधारा की प्रमुख विशेषता रही। इन कवियों ने प्रेमाख्यानकों की रचना की। इन सूफी कवियों ने प्रेमगाथाओं के रूप में प्रेम तत्व का वर्णन किया है जो ईश्वर को मिलाने वाला है। भारत में सूफी धर्म का प्रवेश ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ। यह धर्म चार सम्प्रदायों के रूप में आया। (1) चिश्ती सम्प्रदाय (2) सुहरावर्दी सम्प्रदाय (3) कादरी सम्प्रदाय (4) नक्शबंदी सम्प्रदाय

इनका क्रम रहा – बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध, सन् तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध, पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध। ये सम्प्रदाय अधिकतर तुर्किस्तान, इराक, ईरान और अफगानिस्तान से विभिन्न सन्तो द्वारा भारत में प्रचारित हुए। इन चारों सम्प्रदायों का प्रभाव अपनी सरल ईश्वरोन्मुखी भावना के कारण जनसमुदाय पर पड़ता चला गया।¹⁰

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक सूफी धर्म के अन्तर्गत चौदह सम्प्रदायों की वृद्धि का उल्लेख मिलता है।

सगुण भक्ति साधना की परम्परा राजनीतिक परिस्थिति या परिवेश का परिणाम न होकर वैदिक काल से प्रवहमान भक्ति का ही एक रूप था।¹¹ देश के पूर्व भाग में से जयदेव जी के कृष्ण प्रेम का संगीत गूँज रहा था। उत्तर या मध्य भाग भारत में रामानन्द जी ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया। बल्लभाचार्य जी ने कृष्ण भक्ति से जनता को भाव विह्वल किया। यही आगे जाकर रामभक्ति शाखा एवं कृष्णभक्ति शाखा के प्रवर्तन का कारण बनें। रामभक्त कवियों में तुलसीदास एवं कृष्णभक्ति कवियों में सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों का प्रमुख स्थान रहा। संप्रदाय विहीन कृष्णभक्तकवियों में मीराबाई एवं रसखान का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है।

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन हिन्दी में होता हुआ गुजराती पजाबी बंगला, आसामी, उड़िया में फैल गया। सोलहवीं शती के अंत तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में यह धार्मिक आन्दोलन छा गया। साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा। यद्यपि मध्यकाल के इस दौर में वीरकाव्य (श्रीधर का रणमल्ल छंद) चरितकाव्य, नीतिकाव्य, रीतिकाव्य की भी रचना हुई परन्तु प्रमुखता भक्ति काव्य की ही रही। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन एक धार्मिक आन्दोलन न होकर विशालकाय जन आन्दोलन कहा जा सकता है जिसकी गूँज भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँची। यह मध्यकालीन आन्दोलन जहाँ भावात्मक एकता एवं चतुर्दिक विस्तार की दृष्टि से भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन कहा जा सकता है वहाँ हिन्दी के मध्यकालीन धार्मिक काव्य को उसके एक ऐसे प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसके पास एक ओर तमिल के आलवार भक्तों से लेकर संस्कृत के जयदेव तक की गीतिशैली के पर्याप्त नमूने हैं तो दूसरी ओर तेलगू, मलयालम, कन्नड़ आदि से लेकर संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की पौराणिक प्रबन्ध परम्परा तथा बौद्धों नाथों एवं संतों की पद-परम्परा की विभिन्न प्रवृत्तियाँ व विशेषतायें विद्यमान हैं।¹² वस्तुतः यह आन्दोलन राष्ट्र की विभिन्न परम्पराओं को प्रतिनिधित्व प्रदान करता है, साथ ही हिन्दी साहित्य के इतिहास को गौरान्वित करता है।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास: प्रथम खण्ड— गणपतिचन्द्र गुप्त, पृष्ठ सं० 178।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ सं० 34।
3. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास: प्रथम खण्ड – गणपतिचन्द्र गुप्त पृ० सं० 130।
4. हिन्दी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० सं० 53।
5. हिन्दी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० सं० 53।
6. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, प्रथम खण्ड, गणपतिचन्द्र गुप्त पृ० सं० 179।
7. हिन्दी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ सं० 54।

8. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र सिंह, पृष्ठ सं० 211।
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र सिंह, पृष्ठ सं० 228।
10. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ सं० 302।
11. हिन्दी साहित्य की भूमिका – डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ सं० 174।
12. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – गणपतिचन्द्र गुप्त, पृष्ठ सं० 193